

# जयप्रकाश नारायण की समग्र क्रांति और राजनीतिक दलों से तटस्थता : दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा का समालोचनात्मक विश्लेषण

डॉ. राकेश कुमार जायसवाल

असिस्टेंट प्रोफेसर  
राजनीति विज्ञान विभाग  
राजकीय महाविद्यालय, बदायूँ, उत्तर प्रदेश, भारत

## सारांश

जयप्रकाश नारायण भारतीय राजनीतिक चिंतन के उन विरल व्यक्तित्वों में हैं जिन्होंने लोकतंत्र को केवल चुनाव और सत्ता-हस्तांतरण की प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि नैतिक-सामाजिक पुनर्निर्माण की व्यापक परियोजना के रूप में देखा। 1974 के बिहार छात्र आंदोलन और उसके बाद उभरे व्यापक जनांदोलन में उन्होंने 'समग्र क्रांति' का जो आह्वान किया, उसका केंद्रीय तत्व था राजनीतिक दलों की सत्ता-केंद्रित राजनीति के स्थान पर लोकशक्ति-आधारित, विकेंद्रीकृत और नैतिक राजनीति की स्थापना। इसी क्रम में उनकी 'दलविहीन लोकतंत्र' की अवधारणा सामने आती है, जिसे उन्होंने समय-समय पर 'लोकनीति', 'लोकशक्ति', 'पंचायती स्वशासन' और 'सहमति-आधारित लोकतंत्र' जैसे विचारों से जोड़ा। जेपी का मानना था कि आधुनिक दलीय राजनीति जनता को संगठित करने के बजाय उसे विभाजित करती है; चुनावी प्रतिस्पर्धा सिद्धांत और नीति से अधिक सत्ता, संसाधन, चंदा, प्रचार और गुटबंदी पर आधारित हो जाती है; और प्रतिनिधि संस्थाएँ नागरिकों की वास्तविक भागीदारी के बजाय कुछ पेशेवर राजनीतिक वर्गों के नियंत्रण में चली जाती हैं। यह शोधपत्र जेपी की दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा का समालोचनात्मक विश्लेषण करता है। इसमें प्रथम, उनके वैचारिक विकास—मार्क्सवाद, कांग्रेस सोशलिज्म, गांधीवाद और सर्वोदय—के बीच से दल-विरोधी रुझान के क्रमिक निर्माण को समझा गया है। द्वितीय, यह देखा गया है कि 'समग्र क्रांति' के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आयामों के बीच दलविहीन लोकतंत्र किस प्रकार एक केंद्रीय जोड़कारी अवधारणा के रूप में उपस्थित है। तृतीय, इस विचार की सैद्धांतिक शक्ति—जवाबदेही, विकेंद्रीकरण, नैतिकता, सहभागी लोकतंत्र, ग्राम स्वराज और संवादशील निर्णय-प्रक्रिया—का विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ, आधुनिक प्रतिनिधिक लोकतंत्र, हित-समूहों की राजनीति, सामाजिक विषमता, बहुलतावाद, संगठनात्मक मध्यस्थता तथा उत्तरदायी शासन की आवश्यकताओं के संदर्भ में इसकी व्यावहारिक सीमाओं की आलोचनात्मक जांच की गई है। अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि जेपी का दलविहीन लोकतंत्र एक नैतिक-राजनीतिक आदर्श के रूप में अत्यंत आकर्षक है, क्योंकि यह लोकतंत्र को मात्र प्रक्रियात्मक नहीं, बल्कि मानवीय और नैतिक परियोजना मानता है। किन्तु आधुनिक, जटिल, बहुलतावादी और बड़े पैमाने के समाज में पूरी तरह दलविहीन राजनीतिक व्यवस्था व्यवहारतः कठिन प्रतीत होती है। राजनीतिक दल हितों के समेकन, वैकल्पिक नीतियों के प्रस्तुतीकरण, नेतृत्व निर्माण और शासन की जवाबदेही के लिए महत्वपूर्ण माध्यम बने रहते हैं। इसके बावजूद, दलीय लोकतंत्र के अंतर्विरोधों—भ्रष्टाचार, अवसरवाद, नेतृत्व का व्यक्तिकेंद्रीकरण, चुनावी व्यय, जनसरोकारों से दूरी, और सत्ता-प्रधानता—पर जेपी की आलोचना आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। अतः शोधपत्र यह प्रतिपादित करता है कि जेपी की विरासत का उचित अर्थपूर्ण दलविहीनता नहीं, बल्कि दलीय लोकतंत्र का लोकतंत्रीकरण, पारदर्शिता, आंतरिक लोकतंत्र, स्थानीय स्वशासन की सुदृढ़ता और लोक-आधारित नागरिक राजनीति का विस्तार है।

**मुख्य शब्द:** समग्र क्रांति, दलविहीन लोकतंत्र, पार्टी-लेस डेमोक्रेसी, लोकनीति, सर्वोदय, जयप्रकाश नारायण, पंचायती राज, आपातकाल, सहभागी लोकतंत्र

## 1. प्रस्तावना

भारतीय लोकतंत्र की यात्रा एक विचित्र द्वंद्व से गुजरती रही है। एक ओर यह व्यापक मताधिकार, नियमित चुनाव, संसदीय संस्थाओं और संवैधानिक ढाँचे पर आधारित विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है; दूसरी ओर, इसे समय-समय पर भ्रष्टाचार, अपराधीकरण, जातीय ध्रुवीकरण, चुनावी अवसरवाद, दलीय विघटन, खरीद-फरोख्त, प्रशासनिक केंद्रीकरण और नागरिक दूरी

जैसी समस्याओं ने गंभीर रूप से प्रभावित किया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद लोकतंत्र के संस्थागत रूप का विकास अवश्य हुआ, परंतु लोकतंत्र के सामाजिक और नैतिक आधार पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना उसके औपचारिक ढाँचे पर। इसी संदर्भ में जयप्रकाश नारायण का चिंतन विशेष महत्व रखता है। उन्होंने लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रतियोगिता का नाम नहीं माना, बल्कि उसे लोक-सहभागिता, नैतिकता, विकेंद्रीकरण, सहमति और सामाजिक परिवर्तन के साथ जोड़ा। 1970 के दशक तक आते-आते भारतीय राजनीति में कांग्रेस प्रणाली का प्रभुत्व चुनौती के दौर से गुजर रहा था। महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, छात्र असंतोष, प्रशासनिक अकुशलता और राज्यसत्ता के केंद्रीकरण ने राजनीतिक संकट को जन्म दिया। गुजरात नव निर्माण आंदोलन और बिहार छात्र आंदोलन इस संकट की पृष्ठभूमि में उभरे। जेपी ने बिहार आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार करते हुए इसे केवल प्रादेशिक या तात्कालिक संघर्ष नहीं रहने दिया, बल्कि इसे 'समग्र क्रांति' का स्वर दिया। यह क्रांति उनके अनुसार सात स्तरों—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, नैतिक और आध्यात्मिक—पर एक साथ चलने वाली प्रक्रिया थी। इसमें राजनीतिक क्रांति का स्वरूप केवल सरकार बदलने तक सीमित नहीं था; यह दलीय सत्ता की संस्कृति के स्थान पर लोकशक्ति-आधारित राजनीति की स्थापना का कार्यक्रम था। जेपी के राजनीतिक चिंतन में 'दलविहीन लोकतंत्र' का विचार किसी आकस्मिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं था। इसकी जड़ें उनके दीर्घ वैचारिक विकास में थीं—मार्क्सवाद से मोहभंग, कांग्रेस सोशलिस्ट राजनीति का अनुभव, गांधीवादी-सर्वोदय विचारधारा का प्रभाव, भूदान और ग्रामदान आंदोलनों से जुड़ाव, तथा सत्ता-केंद्रित दलों के प्रति लगातार बढ़ती असहमति। उन्होंने यह महसूस किया कि राजनीतिक दल लोकतंत्र के आवश्यक उपकरण न होकर अनेक बार उसके अवरोधक बन जाते हैं। वे जनता को नीति के आधार पर नहीं, बल्कि पहचान, निष्ठा और स्वार्थ के आधार पर बाँटते हैं; चुनावी प्रक्रिया को महँगा और अपारदर्शी बनाते हैं; तथा समाज के नैतिक संसाधनों को क्षीण करते हैं। उनके लिए लोकतंत्र का वास्तविक आधार ग्रामसभा, पंचायत, लोकसमिति और जागरूक नागरिक थे, न कि केवल विधानसभाएँ और संसदें। यहाँ एक केंद्रीय प्रश्न उत्पन्न होता है: क्या दलविहीन लोकतंत्र आधुनिक लोकतंत्र का व्यवहार्य विकल्प हो सकता है? या यह एक उच्च नैतिक आदर्श है, जिसकी उपयोगिता दलीय लोकतंत्र की आलोचना तक सीमित है? क्या राजनीतिक दलों के बिना विविध हितों, सामाजिक अंतर्विरोधों, नीतिगत असहमतियों और शासन की जवाबदेही का प्रबंधन संभव है? क्या सर्वसम्मति-आधारित निर्णय-प्रक्रिया बड़े, जटिल, बहुभाषी, बहुधर्मी और बहुस्तरीय समाज में कारगर हो सकती है? और अंततः, क्या जेपी का यह विचार आज के समय में—जब नागरिक आंदोलन, गैर-दलीय अभियान, सोशल मीडिया-आधारित लामबंदी, और संस्थागत राजनीति के प्रति मोहभंग—फिर से दिखाई देता है—नई प्रासंगिकता प्राप्त करता है? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में यह शोधपत्र तैयार किया गया है। इसका उद्देश्य जयप्रकाश नारायण की दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा को उनके समग्र क्रांति के व्यापक दर्शन से जोड़कर समझना, उसके दार्शनिक और राजनीतिक स्रोतों का विवेचन करना, उसकी सैद्धांतिक शक्ति और व्यावहारिक सीमाओं का समालोचनात्मक परीक्षण करना, तथा समकालीन भारतीय लोकतंत्र के संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता पर पुनर्विचार करना है।

## 2. शोध समस्या, उद्देश्य और शोध प्रश्न

इस अध्ययन की मूल शोध समस्या यह है कि जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रतिपादित 'दलविहीन लोकतंत्र' की अवधारणा भारतीय लोकतांत्रिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण नैतिक-राजनीतिक प्रस्ताव है, किंतु उसके सिद्धांत और व्यवहार के बीच गहरा अंतर दिखाई देता है। यह अध्ययन इस अंतर को समझने का प्रयास करता है।

शोध के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. जयप्रकाश नारायण के वैचारिक विकास के संदर्भ में दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा के उद्भव और स्रोतों का विश्लेषण करना।
2. समग्र क्रांति के विचार में दलविहीन लोकतंत्र की केंद्रीय भूमिका को स्पष्ट करना।
3. दलीय राजनीति के विरुद्ध जेपी की आलोचना का सैद्धांतिक मूल्यांकन करना।
4. आधुनिक प्रतिनिधिक लोकतंत्र की कसौटी पर दलविहीन लोकतंत्र की व्यावहारिकता का परीक्षण करना।
5. समकालीन भारतीय लोकतंत्र में जेपी के विचार की प्रासंगिकता और सीमाओं का विवेचन करना।

इन उद्देश्यों के अनुरूप शोध प्रश्न हैं—

1. जयप्रकाश नारायण राजनीतिक दलों को लोकतंत्र के लिए बाधक क्यों मानते थे?
2. दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा उनके समग्र क्रांति के दर्शन से कैसे जुड़ती है?
3. भारतीय समाज और राज्य की जटिल वास्तविकताओं में यह अवधारणा कितनी व्यावहारिक थी और है?
4. क्या जेपी का विचार पूर्ण विकल्प के रूप में स्वीकार्य है, या दलीय लोकतंत्र में सुधार हेतु एक आलोचनात्मक नैतिक हस्तक्षेप के रूप में अधिक उपयोगी है?

## 3. शोध पद्धति और स्रोत

यह शोध मूलतः गुणात्मक, व्याख्यात्मक और समालोचनात्मक पद्धति पर आधारित है। अध्ययन में प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों में जयप्रकाश नारायण की मूल कृतियाँ, भाषण, लेख और राजनीतिक वक्तव्य शामिल हैं, विशेषकर A Plea for Reconstruction of Indian Polity, Prison Diary, तथा समग्र क्रांति और लोकनीति संबंधी उनके वक्तव्य। द्वितीयक स्रोतों में 2000 से 2014 के बीच प्रकाशित पुस्तकें, शोधलेख, राजनीतिक विश्लेषण, भारतीय लोकतंत्र और जेपी आंदोलन पर अध्ययन तथा पंचायती राज एवं सहभागी लोकतंत्र संबंधी विमर्श शामिल किए गए हैं। पद्धति के स्तर पर यह अध्ययन तीन चरणों में विकसित है—पहला, ऐतिहासिक-वैचारिक पुनर्निर्माण; दूसरा, संकल्पनात्मक विश्लेषण; और तीसरा, समालोचनात्मक परीक्षण। अर्थात् पहले जेपी के विचार की वैचारिक पृष्ठभूमि को समझा गया, फिर 'दलविहीन लोकतंत्र' की अवधारणा के तत्वों का विश्लेषण किया गया, और अंत में आधुनिक लोकतंत्र के सिद्धांत एवं भारतीय अनुभव के आलोक में उसकी आलोचनात्मक जाँच की गई।

#### 4. साहित्य समीक्षा

जयप्रकाश नारायण पर उपलब्ध साहित्य broadly दो धाराओं में विभाजित किया जा सकता है। पहली धारा उन्हें एक नैतिक-राजनीतिक विद्रोही, लोकतांत्रिक समाजवादी और गांधीवादी पुनर्व्याख्याकार के रूप में देखती है। दूसरी धारा उनके विचारों, विशेषकर दलविहीन लोकतंत्र और समग्र क्रांति, को एक नैतिक-यूटोपियाई परियोजना मानते हुए उसकी व्यवहारिक सीमाओं पर बल देती है। बिपिन चंद्र (2000) ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति के संक्रमण और लोकतांत्रिक संकट की चर्चा करते हुए इस बात की ओर संकेत किया कि 1970 के दशक में सत्ता का केंद्रीकरण और जन असंतोष, दोनों साथ-साथ बढ़े। यह पृष्ठभूमि जेपी आंदोलन को समझने के लिए उपयोगी है। घनश्याम शाह (2004) ने सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में दिखाया कि दलीय राजनीति के बाहर भी जनशक्ति संगठित हो सकती है; हालांकि ऐसी शक्ति प्रायः राज्यसत्ता पर निर्णायक प्रभाव डालने के लिए अंततः संस्थागत राजनीति से किसी न किसी रूप में जुड़ती है। यह निष्कर्ष जेपी की लोकसमिति और लोकशक्ति संबंधी अवधारणा के मूल्यांकन के लिए महत्वपूर्ण है। अजीत दासगुप्ता (2005) ने JP Movement and the Emergency में बिहार आंदोलन, आपातकाल और विरोध राजनीति का विश्लेषण करते हुए जेपी के नेतृत्व की ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित किया है। उनके अनुसार जेपी ने आंदोलन को नैतिक वैधता दी, किंतु एक स्पष्ट संस्थागत विकल्प प्रस्तुत करने में सीमाएँ थीं। यह मूल्यांकन दलविहीन लोकतंत्र के व्यवहारिक पक्ष की आलोचना के लिए आधार प्रदान करता है। बी. प्रसाद (2010) ने जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक और दार्शनिक चिंतन का विस्तृत विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि दलविहीन लोकतंत्र का विचार गांधीवादी ग्राम स्वराज और सर्वोदय की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ। प्रसाद इसे जेपी के जीवनानुभवों का निष्कर्ष मानते हैं, न कि केवल आपातकाल-पूर्व की राजनीतिक रणनीति। सुभाष कश्यप (2004) ने भारतीय संसदीय लोकतंत्र की समस्याओं पर विचार करते हुए दलीय व्यवस्था की कमियों—दल-बदल, अवसरवाद, अनुशासन और नेतृत्व केंद्रीकरण—को रेखांकित किया, लेकिन राजनीतिक दलों की अनिवार्यता पर भी बल दिया। उनके विचार जेपी की आलोचना और उसकी सीमा दोनों को समझने में सहायक हैं। योगेन्द्र यादव और सुहास पलशीकर (2006; 2009 के आसपास के लेखन) ने भारतीय लोकतंत्र में चुनावी प्रतिस्पर्धा, सामाजिक प्रतिनिधित्व और दलीय संरचना के बदलते चरित्र का विश्लेषण करते हुए दिखाया कि दल अनेक बार सामाजिक वंचित समूहों के लिए प्रतिनिधित्व के मंच भी बने हैं। यह बिंदु जेपी के दल-विरोधी दृष्टिकोण की आलोचना में महत्वपूर्ण है। निर्जा गोपाल जयराल (2006) और जॉर्ज मैथ्यू (2007) जैसे पंचायती राज के अध्येताओं ने स्थानीय स्वशासन के लोकतांत्रिक महत्व को रेखांकित किया है। उनका अध्ययन यह दिखाता है कि विकेंद्रीकरण और ग्राम-आधारित लोकतंत्र की दिशा में जेपी की चिंता समय से आगे की थी। किंतु ये अध्ययन यह भी बताते हैं कि स्थानीय संस्थाएँ स्वतः नैतिक या समावेशी नहीं हो जातीं; स्थानीय प्रभुत्वशाली शक्तियाँ उनमें कब्जा भी कर सकती हैं। इस प्रकार, जेपी का ग्राम-केंद्रित लोकतंत्र व्यवहार में जटिलताओं से मुक्त नहीं है।

रजनी कोठारी का दलीय राजनीति पर लेखन भले ही मूलतः पहले का हो, पर 2000–2014 के शोध में भी उनका प्रभाव निर्णायक है। भारतीय राजनीति में “कांग्रेस प्रणाली”, गुटवाद, मध्यस्थताओं और हित-समेकन पर उनके विचार यह समझने में मदद करते हैं कि राजनीतिक दल केवल सत्ता-उपकरण नहीं, बल्कि समाज और राज्य के बीच मध्यस्थ संस्थाएँ भी हैं। इसलिए दलों के पूर्ण उन्मूलन का विचार आधुनिक राजनीतिक संगठन की वास्तविकताओं से टकराता है। समग्रतः साहित्य यह संकेत करता है कि जेपी की दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा पर गंभीर पुनर्विचार आवश्यक है। एक ओर यह लोकतंत्र के नैतिकीकरण और विकेंद्रीकरण का महत्वपूर्ण प्रस्ताव है; दूसरी ओर यह आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली के बारे में अपर्याप्त यथार्थवाद से ग्रस्त दिखाई देती है। प्रस्तुत शोधपत्र इसी द्वंद्व को अधिक व्यवस्थित रूप में सामने लाता है।

#### 5. जयप्रकाश नारायण का वैचारिक विकास और दलों से मोहभंग

जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार को समझने के लिए उनके जीवन-विकास के विभिन्न चरणों को ध्यान में रखना आवश्यक है। वे उन विरल भारतीय नेताओं में थे जिनके चिंतन में स्थिरता से अधिक विकास, आत्मालोचन और वैचारिक रूपांतरण दिखाई देता है। यही कारण है कि उनका दलविहीन लोकतंत्र का विचार किसी एक विचारधारा की सरल परिणति नहीं, बल्कि विविध बौद्धिक अनुभवों का संश्लेषण है।

### 5.1 मार्क्सवाद और क्रांतिकारी समाजवाद का प्रभाव

युवा अवस्था में जेपी पर मार्क्सवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव था। अमेरिका में अध्ययन के दौरान पूँजीवाद, वर्ग-शोषण और सामाजिक असमानता के प्रश्नों ने उन्हें आकर्षित किया। भारत लौटने के बाद वे समाजवादी धारा से जुड़े और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रमुख नेताओं में रहे। मार्क्सवाद ने उन्हें संरचनात्मक शोषण, वर्ग-वर्चस्व और आर्थिक असमानता की समझ दी। परंतु वे जल्दी ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सोवियत प्रकार का केंद्रीकृत क्रांतिकारी मॉडल मनुष्य की स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक नैतिकता को कुचल देता है। यही बिंदु उनके दल-विरोधी रुझान की प्रारंभिक पृष्ठभूमि बनता है—क्योंकि उनके लिए क्रांति का अर्थ केवल सत्ता पर कब्जा नहीं, बल्कि शक्ति-संबंधों का मानवीय पुनर्गठन था।

### 5.2 कांग्रेस सोशलिस्ट अनुभव और संसदीय राजनीति से निराशा

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और स्वतंत्रता-उत्तर दलगत राजनीति के अनुभव ने जेपी को यह दिखाया कि दल सिद्धांत की अपेक्षा संगठनात्मक वर्चस्व, चुनावी गणित और नेतृत्व प्रतिस्पर्धा में अधिक उलझ जाते हैं। स्वतंत्रता के बाद सत्ता-राजनीति का स्वरूप तेजी से बदल रहा था। जेपी को लगने लगा कि दलीय संघर्ष ने लोकसेवा को पीछे धकेल दिया है। उन्होंने स्वयं सत्ता में जाने का मार्ग नहीं चुना। यह अस्वीकार मात्र व्यक्तिगत वैराग्य नहीं था; यह दलीय सत्ता-केंद्रित राजनीति के प्रति उनका बढ़ता अविश्वास था। बी. प्रसाद (2010) के अनुसार, जेपी का यह परिवर्तन व्यक्तिगत नैतिकता का प्रश्न होने के साथ-साथ राजनीति की प्रकृति पर गहरे पुनर्विचार का परिणाम था।

### 5.3 गांधी और सर्वोदय की ओर झुकाव

जेपी के चिंतन में निर्णायक मोड़ तब आया जब वे गांधीवादी-सर्वोदय दर्शन से गहराई से प्रभावित हुए। विनोबा भावे के भूदान और ग्रामदान आंदोलनों से जुड़ने के बाद उन्होंने राजनीति को राज्य और दलों की परिधि से बाहर देखने की कोशिश की। गांधी के ग्राम स्वराज, ट्रस्टीशिप, अहिंसा, साधन-शुचिता, विकेंद्रीकरण और आत्मशासन के विचारों ने उनके चिंतन को नया आयाम दिया। यहाँ से वे 'राजनीति' के स्थान पर 'लोकनीति' की बात करने लगे। लोकनीति का अर्थ था—सत्ता-केंद्रित दलीय प्रतियोगिता के बजाय समाज-आधारित सहकारी, नैतिक और विकेंद्रित जनक्रिया।

### 5.4 A Plea for Reconstruction of Indian Polity और दलविहीनता का प्रारूप

जेपी की 1959 की कृति A Plea for Reconstruction of Indian Polity उनकी दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा का आधारभूत पाठ है। इसमें उन्होंने भारतीय लोकतंत्र के पुनर्गठन का जो खाका प्रस्तुत किया, वह संसदीय-दलीय ढाँचे की आलोचना से आगे बढ़कर ग्राम-केंद्रित स्वशासन पर आधारित व्यवस्था की वकालत करता है। उनका तर्क था कि पश्चिमी संसदीय मॉडल भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं और लोकतांत्रिक आकांक्षाओं के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह जनता को पाँच वर्षों में एक बार मतदान तक सीमित कर देता है। इसके विपरीत, उन्होंने नीचे से ऊपर तक निर्मित, पंचायत-आधारित, दलीय-चिह्न-विहीन लोकतांत्रिक ढाँचा प्रस्तावित किया।

### 5.5 नैतिक राजनीति की अवधारणा

जेपी का दल-विरोधी दृष्टिकोण केवल संगठनात्मक आलोचना नहीं था; यह राजनीति के नैतिकीकरण का प्रश्न भी था। उनके लिए राजनीति तभी सार्थक है जब वह व्यक्ति और समाज दोनों के नैतिक उन्नयन में सहायक हो। वे मानते थे कि दलीय प्रतियोगिता स्वभावतः विभाजन, विरोध, प्रचार-युद्ध, आरोप-प्रत्यारोप और सत्ता-लिप्सा को जन्म देती है। इसके विपरीत, लोकतंत्र को सहमति, संवाद, सेवा और जवाबदेही पर आधारित होना चाहिए। इसी नैतिक मानक से उन्होंने दलीय लोकतंत्र को परखा और उसके विकल्प के रूप में दलविहीन लोकतंत्र का प्रतिपादन किया।

## 6. दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा: अर्थ, स्वरूप और तत्व

जेपी की दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा को केवल “बिना दलों के चुनाव” के रूप में समझना गंभीर सरलीकरण होगा। यह एक व्यापक लोकतांत्रिक दर्शन है जो राज्य, समाज, सत्ता, प्रतिनिधित्व और भागीदारी के संबंधों की वैकल्पिक पुनर्कल्पना करता है। इसके कुछ केंद्रीय तत्व निम्न हैं।

### 6.1 दलीय राजनीति की आलोचना

जेपी के अनुसार राजनीतिक दल लोकतंत्र के साधन होने के बजाय स्वयं सत्ता के केंद्र बन जाते हैं। वे जनता की स्वायत्तता को कम करते हैं और राजनीतिक सहभागिता को दलीय निष्ठा में बदल देते हैं। चुनावी राजनीति में धन, प्रचार, गठजोड़, जातीय समीकरण और अवसरवाद नीति एवं सिद्धांत पर हावी हो जाते हैं। परिणामतः लोकतंत्र का सार—जनसत्ता—कमजोर होता है और “चुनावी तानाशाही” या “दलीय अल्पतंत्र” का विकास होता है। दासगुप्ता (2005) के अनुसार, जेपी की यह आलोचना 1970 के दशक के राजनीतिक संकट से पुष्ट हुई, जब जन असंतोष और दलीय मशीनरी के बीच दूरी स्पष्ट हो रही थी।

### 6.2 व्यक्तित्व और गुणाधारित प्रतिनिधित्व

दलविहीन लोकतंत्र में उम्मीदवार का चयन राजनीतिक दल नहीं, बल्कि स्थानीय समुदाय करेगा। चुनाव दलीय चिह्न पर नहीं, व्यक्ति के चरित्र, सेवा, योग्यता और सामाजिक विश्वास के आधार पर होना चाहिए। जेपी का विश्वास था कि इससे राजनीति का नैतिक स्तर ऊँचा होगा और स्थानीय समाज अधिक जागरूकता से प्रतिनिधियों का चयन करेगा। हालांकि यही बिंदु बाद में आलोचना का विषय बनता है, क्योंकि स्थानीय स्तर पर “चरित्र” और “समाज-स्वीकृति” की भाषा अनेक बार प्रभुत्वशाली जाति या वर्ग की स्वीकृति में बदल सकती है।

### 6.3 ग्रामसभा और पंचायती स्वशासन

जेपी के लोकतंत्र का वास्तविक केंद्र ग्रामसभा है। उनका मानना था कि लोकतंत्र को नीचे से ऊपर की ओर निर्मित होना चाहिए। ग्रामसभा केवल प्रशासनिक इकाई नहीं, बल्कि राजनीतिक-सामाजिक आत्मशासन की मूल इकाई है। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद, प्रांतीय परिषद और राष्ट्रीय परिषद—यह पूरा ढाँचा लोकाधिकार के विकेंद्रीकृत प्रवाह पर आधारित होना चाहिए। इस संरचना में राजनीतिक दलों की भूमिका नहीं, बल्कि सामुदायिक सहभागिता और सहमति की भूमिका प्रमुख होगी। इस संदर्भ में बाद के पंचायती राज सुधारों को जेपी के दृष्टिकोण का आंशिक संस्थागत प्रतिबिंब माना जा सकता है (Jha, 2002; Mathew, 2007)।

### 6.4 लोकसमिति और नागरिक मध्यस्थता

जेपी ने राजनीतिक दलों के स्थान पर “लोकसमिति” या गैर-दलीय जनसमितियों की कल्पना की, जो सामाजिक समस्याओं पर जनता को संगठित करें, सरकार पर दबाव बनाएँ, परंतु स्वयं सत्ता की प्रतियोगिता में न उतरें। यह विचार आधुनिक नागरिक समाज, जनांदोलन और अभियान-आधारित राजनीति से कुछ हद तक मेल खाता है। घनश्याम शाह (2004) ने सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में बताया है कि ऐसे संगठन लोकतंत्र की जीवंतता बढ़ाते हैं, क्योंकि वे संस्थागत राजनीति के बाहर से जनसरोकारों को सामने लाते हैं।

### 6.5 सर्वसम्मति और संवाद

जेपी बहुमतवाद के स्थान पर सहमति और सर्वसम्मति की संस्कृति के पक्षधर थे। उनका मानना था कि लोकतंत्र का अर्थ केवल 51 बनाम 49 नहीं हो सकता; वास्तविक लोकतंत्र वह है जिसमें संवाद, विचार-विमर्श और आपसी विश्वास के आधार पर निर्णय लिए जाएँ। यह विचार गांधीवादी परंपरा से प्रेरित है। हालांकि बड़े लोकतंत्रों में सर्वसम्मति की सीमा स्पष्ट है, फिर भी deliberative democracy की समकालीन अवधारणाएँ इस पहलू को आंशिक वैचारिक समर्थन देती हैं।

### 6.6 राज्य-सत्ता का विकल्पीकरण

जेपी का लोकतंत्र राज्य के अत्यधिक विस्तार के विरुद्ध था। वे शक्ति के केंद्रीकरण को व्यक्ति-स्वतंत्रता और सामाजिक स्वायत्तता के लिए खतरा मानते थे। इसलिए वे राज्य की भूमिका को सीमित करते हुए सामाजिक संस्थाओं, पंचायतों और लोकसमूहों को अधिक अधिकार देना चाहते थे। यह विचार समग्र क्रांति के आर्थिक और सामाजिक पक्ष से भी जुड़ा है, जहाँ आत्मनिर्भरता, विकेंद्रीकरण और सामुदायिक स्वशासन महत्वपूर्ण हैं।

## 7. समग्र क्रांति और दलविहीन लोकतंत्र का अंतर्संबंध

जयप्रकाश नारायण की 'समग्र क्रांति' को अक्सर 1974-75 के आंदोलनकारी नारे के रूप में याद किया जाता है, जबकि वास्तव में यह एक गहन वैचारिक परियोजना थी। जेपी के अनुसार समाज की समस्याएँ परस्पर संबंधित हैं; इसलिए उनका समाधान भी समग्र होना चाहिए। यदि राजनीति भ्रष्ट है, तो केवल सरकार बदलने से कुछ नहीं होगा; यदि समाज जाति और असमानता से ग्रस्त है, तो लोकतंत्र केवल औपचारिक रहेगा; यदि शिक्षा, संस्कृति और नैतिकता में पतन है, तो राजनीतिक संस्थाएँ भी खोखली हो जाएँगी। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में दलविहीन लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक तकनीक नहीं, बल्कि समग्र क्रांति की केंद्रीय राजनीतिक शर्त है।

### 7.1 राजनीतिक क्रांति का नैतिक आधार

समग्र क्रांति में राजनीतिक परिवर्तन का लक्ष्य सत्ता पर कब्जा नहीं, बल्कि सत्ता-संस्कृति का परिवर्तन था। जेपी का मानना था कि जब तक राजनीति दलीय प्रतिस्पर्धा और सत्ता-लाभ पर आधारित रहेगी, तब तक सामाजिक न्याय, नैतिकता और जनहित गौण बने रहेंगे। इसलिए राजनीतिक क्रांति का पहला कदम ही दलीय सत्ता-केंद्रितता को चुनौती देना था।

### 7.2 सामाजिक क्रांति और वोटबैंक राजनीति

जेपी के अनुसार दल सामाजिक विभाजनों—जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र—का उपयोग चुनावी लाभ के लिए करते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक एकता के बजाय विभाजन को प्रोत्साहित करते हैं। समग्र क्रांति का सामाजिक लक्ष्य जातिवाद, संप्रदायवाद और ऊँच-नीच के विरुद्ध था। इस दृष्टि से दलविहीन लोकतंत्र सामाजिक समरसता का उपकरण माना गया। हालांकि आलोचक कहते हैं कि सामाजिक विभाजन दलों के कारण नहीं, बल्कि समाज की संरचना में निहित हैं; दल कभी-कभी इन विभाजनों को प्रतिनिधित्व का मंच भी देते हैं।

### 7.3 आर्थिक क्रांति और चंदा-आधारित राजनीति

दलीय राजनीति में चुनावी चंदा, कॉर्पोरेट प्रभाव और आर्थिक संसाधनों की केंद्रीय भूमिका जेपी की चिंता का विषय थी। उनका मानना था कि ऐसी व्यवस्था में आर्थिक समानता या समाजवादी दिशा का कोई भी कार्यक्रम कमजोर पड़ जाता है। समग्र क्रांति की आर्थिक दिशा—विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था, श्रम का सम्मान, सामुदायिक संसाधन नियंत्रण—तभी संभव है जब राजनीति धनबल से मुक्त हो।

### 7.4 शैक्षिक, सांस्कृतिक और नैतिक क्रांति

समग्र क्रांति के अन्य आयाम भी राजनीतिक दलों की आलोचना से जुड़े हैं। शैक्षिक क्रांति नागरिकता और सामाजिक जिम्मेदारी को विकसित करना चाहती है; सांस्कृतिक क्रांति उपभोगवादी और स्वार्थपरक जीवन-दृष्टि के स्थान पर सहयोग और नैतिकता की संस्कृति लाना चाहती है; नैतिक क्रांति साधन-शुचिता और सार्वजनिक जीवन में ईमानदारी की मांग करती है। जेपी के अनुसार दलीय राजनीति इन मूल्यों को प्रोत्साहित करने के बजाय क्षीण करती है। अतः दलविहीन लोकतंत्र समग्र क्रांति के समूचे वैचारिक ढाँचे में केंद्रीय धुरी की तरह काम करता है।

## 8. 1974 का बिहार आंदोलन, आपातकाल और दलविहीनता का राजनीतिक संदर्भ

जेपी के विचार को उसके ऐतिहासिक क्षण से अलग करके नहीं समझा जा सकता। 1974 का बिहार आंदोलन वस्तुतः छात्र असंतोष से प्रारंभ होकर व्यापक जन-आंदोलन में परिवर्तित हुआ। भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, महँगाई और प्रशासनिक विफलता ने राज्य के खिलाफ व्यापक आक्रोश पैदा किया। जेपी ने इस आंदोलन को दिशा देते हुए इसे 'समग्र क्रांति' का रूप दिया। उन्होंने विधायिका के विघटन, लोक-नियंत्रण और नैतिक राजनीति की बात की।

यहीं दलविहीन लोकतंत्र के विचार को आंदोलनकारी ऊर्जा मिली। जेपी के लिए समस्या केवल तत्कालीन सरकार नहीं थी; समस्या पूरी दलीय सत्ता-संस्कृति थी। उनके अनुसार यदि भ्रष्ट सरकार हटाकर दूसरी दलीय सरकार ला दी जाए, तो भी मूल बीमारी बनी रहेगी। इसलिए उन्होंने छात्रों और युवाओं से लोकशक्ति के संगठन की बात कही। इस संदर्भ में दासगुप्ता (2005) का विश्लेषण महत्वपूर्ण है, जो बताता है कि आंदोलन ने विपक्षी दलों को ऊर्जा दी, किंतु जेपी स्वयं उन्हें अंतिम समाधान नहीं मानते थे। आपातकाल (1975-77) ने जेपी की आलोचना को ऐतिहासिक वैधता भी प्रदान की। सत्ता के केंद्रीकरण, नागरिक स्वतंत्रताओं के दमन, विपक्षी नेताओं की गिरफ्तारी और प्रेस सेंसरशिप ने लोकतंत्र के संस्थागत ढाँचे की कमजोरियों को उजागर कर दिया। जेपी ने Prison Diary में राज्यसत्ता की दमनकारी क्षमता और नैतिक राजनीति की आवश्यकता पर गंभीर चिंतन

किया। हालांकि विडंबना यह रही कि आपातकाल के विरुद्ध संघर्ष अंततः जनता पार्टी जैसे दलीय गठबंधन में परिणत हुआ। यह बिंदु बाद में दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा की व्यावहारिक सीमा के रूप में सामने आता है।

## 9. दलविहीन लोकतंत्र की सैद्धांतिक शक्तियाँ

जेपी की दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा को केवल अव्यावहारिक कहकर खारिज कर देना उचित नहीं होगा। इसमें कई ऐसे तत्व हैं जो लोकतांत्रिक सिद्धांत की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हैं।

### 9.1 लोकतंत्र का नैतिकीकरण

आधुनिक लोकतंत्र पर सबसे बड़ी आलोचनाओं में से एक यह है कि वह प्रक्रियात्मक होकर रह गया है। चुनाव, बहुमत और प्रतिनिधित्व की संस्थाएँ तो हैं, परंतु नैतिकता, सार्वजनिक चरित्र, सेवा-भाव और सामाजिक उत्तरदायित्व कमजोर पड़ते जा रहे हैं। जेपी ने इस संकट को बहुत पहले पहचान लिया था। उनका आग्रह था कि राजनीति केवल सत्ता-प्रबंधन नहीं, बल्कि लोककल्याण की नैतिक गतिविधि है। यह आग्रह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जब चुनावी रणनीति, छवि-प्रबंधन और संसाधन-प्रधान अभियान लोकतांत्रिक आदर्शों पर भारी पड़ते दिखते हैं।

### 9.2 सहभागी लोकतंत्र की पक्षधरता

जेपी का जोर प्रतिनिधिक लोकतंत्र की सीमाओं से आगे बढ़कर सहभागी लोकतंत्र पर था। ग्रामसभा, पंचायत, लोकसमिति और जनप्रत्यक्षता के विचार लोकतंत्र को अधिक जीवंत और उत्तरदायी बनाते हैं। इस दृष्टि से उनका चिंतन स्थानीय लोकतंत्र, विकेंद्रीकरण और सामुदायिक स्वशासन के आधुनिक विमर्श से जुड़ता है। पंचायती राज पर 73वें और 74वें संविधान संशोधनों ने भारतीय लोकतंत्र में इस दिशा का संस्थागत विस्तार किया, भले ही जेपी की कल्पना उससे कहीं अधिक व्यापक थी

### 9.3 केंद्रीकरण के विरुद्ध प्रतिरोध

जेपी ने राज्यसत्ता के अत्यधिक केंद्रीकरण को लोकतंत्र के लिए घातक माना। यह चिंता आज भी सार्थक है, जब प्रशासनिक, वित्तीय और राजनीतिक केंद्रीकरण बार-बार लोकतांत्रिक संतुलन को प्रभावित करता है। दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा नागरिकों और स्थानीय समुदायों को अधिक शक्ति देकर इस केंद्रीकरण का प्रतिरोध करती है।

### 9.4 संवाद और सहमति की संस्कृति

बहुमतवादी लोकतंत्र में अक्सर यह मान लिया जाता है कि चुनावी जीत से नैतिक वैधता स्वतः प्राप्त हो जाती है। जेपी इस मान्यता से सहमत नहीं थे। वे लोकतंत्र में संवाद, विचार-विमर्श और असहमति के सम्मान को आवश्यक मानते थे। यह दृष्टि deliberative democracy की आधुनिक अवधारणाओं से साम्य रखती है, जहाँ निर्णय-प्रक्रिया में संवाद और सार्वजनिक तर्क को महत्त्व दिया जाता है।

### 9.5 दलीय राजनीति की बीमारियों की सटीक पहचान

जेपी की महानता इस बात में है कि उन्होंने दलीय राजनीति के उन दोषों को बहुत पहले चिन्हित किया, जो बाद के दशकों में और अधिक गंभीर रूप में उभरे—दल-बदल, नेतृत्व का व्यक्तिकेंद्रीकरण, वैचारिक शिथिलता, चुनावी पूँजी का प्रभाव, भ्रष्टाचार, गुटबंदी और जनसरोकारों से दूरी। इस अर्थ में उनका दलविहीन लोकतंत्र चाहे व्यावहारिक न हो, पर उसकी आलोचनात्मक ऊर्जा आज भी अत्यंत उपयोगी है।

## 10. दलविहीन लोकतंत्र की व्यावहारिक सीमाएँ: एक समालोचनात्मक परीक्षण

अब इस अवधारणा की सीमाओं पर विचार करना आवश्यक है। यही इस शोधपत्र का केंद्रीय आलोचनात्मक भाग है। किसी भी वैकल्पिक लोकतांत्रिक परियोजना का मूल्यांकन करते समय केवल उसके नैतिक आकर्षण से काम नहीं चल सकता; यह देखना भी आवश्यक है कि वह जटिल सामाजिक संरचनाओं, विविध हितों, संगठनात्मक आवश्यकताओं और सत्ता-जवाबदेही के प्रश्नों से कैसे निपटती है।

### 10.1 हितों के समेकन की समस्या

आधुनिक समाज बहुलतावादी होते हैं। उनमें वर्ग, जाति, क्षेत्र, भाषा, धर्म, लिंग, पेशा, उद्योग, किसान, मजदूर, मध्यवर्ग, वंचित समुदाय, अल्पसंख्यक—सभी के हित अलग-अलग और कई बार परस्पर विरोधी होते हैं। राजनीतिक दल इन हितों को संगठित, अभिव्यक्त और समेकित करने का माध्यम बनते हैं। यदि दल न हों, तो हित-राजनीति समाप्त नहीं होती; वह अनौपचारिक गुटों,

लॉबियों, जातीय नेटवर्कों, धनिक वर्गों या नौकरशाही के माध्यम से संचालित होने लगती है। इससे जवाबदेही कम और अपारदर्शिता अधिक हो सकती है। यही आलोचना रजनी कोठारी की परंपरा में बार-बार सामने आती है।

### 10.2 प्रतिनिधित्व का संकट

जेपी का मानना था कि व्यक्ति अपने गुणों और सेवा के आधार पर चुना जाए। परंतु व्यवहार में सामाजिक विषमता वाले समाज में कौन “सम्मानित” या “स्वीकृत” व्यक्ति माना जाएगा? अनेक ग्रामीण और स्थानीय संदर्भों में यह दर्जा प्रभुत्वशाली जाति, जमीनदार वर्ग, पुरुष नेतृत्व या स्थानीय दबंग समूहों को मिल सकता है। राजनीतिक दल, अपनी सभी सीमाओं के बावजूद, कभी-कभी आरक्षित टिकट, संगठनात्मक मंच और वैचारिक लामबंदी के माध्यम से वंचित समूहों को प्रतिनिधित्व दिलाते हैं। यादव और पलशीकर ने भारतीय राजनीति में पिछड़े और दलित समूहों की राजनीतिक उन्नति में दलीय प्रक्रिया की भूमिका को रेखांकित किया है। इस दृष्टि से दलविहीन चुनाव कई बार अधिक असमान हो सकते हैं।

### 10.3 जवाबदेही की संस्थागत कठिनाई

लोकतंत्र में सरकार की जवाबदेही केवल व्यक्तिगत ईमानदारी से नहीं चलती; इसके लिए सामूहिक नीतियाँ, कार्यक्रम, घोषणापत्र, विपक्ष, विधायी अनुशासन और उत्तरदायित्व के संस्थागत रूप आवश्यक होते हैं। राजनीतिक दल इस सामूहिक जिम्मेदारी के आधार बनते हैं। यदि सभी प्रतिनिधि निर्दलीय हों, तो शासन-निर्माण, नीति-निर्धारण, नेतृत्व चयन और सरकार गिराने-बचाने की प्रक्रिया और भी अस्थिर हो सकती है। ऐसी स्थिति में अनौपचारिक सौदेबाजी बढ़ सकती है।

### 10.4 सर्वसम्मति की सीमा

सर्वसम्मति एक उच्च लोकतांत्रिक आदर्श है, परंतु बड़े, जटिल और संघर्षशील समाजों में यह हमेशा संभव नहीं होती। कई प्रश्नों पर समाज में वास्तविक मतभेद होते हैं—भूमि सुधार, आरक्षण, भाषा नीति, उद्योग, संसाधन वितरण, धार्मिक अधिकार, कराधान आदि। इन पर किसी एक “सामुदायिक सहमति” की अपेक्षा बहुमत-आधारित निर्णय ही व्यवहारिक हो सकता है। यदि सर्वसम्मति पर अत्यधिक बल दिया जाए, तो या तो निर्णय-प्रक्रिया जड़ हो जाएगी या फिर असहमति को दबाने का खतरा पैदा होगा।

### 10.5 जनता पार्टी का अनुभव

दलविहीन लोकतंत्र की सबसे बड़ी ऐतिहासिक विडंबना यह है कि आपातकाल-विरोधी संघर्ष के दौरान स्वयं जेपी को विपक्षी दलों को एक मंच पर लाकर चुनावी राजनीति में उतरना पड़ा। 1977 में जनता पार्टी की विजय ने कांग्रेस सत्ता को हटाया, परंतु यह प्रयोग शीघ्र ही अंतर्विरोधों से भर गया। वैचारिक विविधता, संगठनात्मक अस्थिरता, नेतृत्व संघर्ष और सत्ता-प्रतिस्पर्धा ने उसे तोड़ दिया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि दलों के बिना नहीं, बल्कि कमजोर रूप से संस्थाबद्ध दलों के साथ राजनीति और भी अस्थिर हो सकती है। जेपी की नैतिक अपील सत्ता-संरचना का स्थायी विकल्प नहीं बना सकी।

### 10.6 स्थानीय स्वशासन की रोमानी कल्पना

जेपी ग्रामसभा और पंचायत को लोकतंत्र की आधारशिला मानते थे। परंतु स्थानीय समाज हमेशा समानतामूलक, सहयोगी और नैतिक नहीं होता। स्थानीय शक्ति-संबंध—जाति, पितृसत्ता, धन, पारिवारिक प्रभुत्व—लोकतांत्रिक संस्थाओं को नियंत्रित कर सकते हैं। पंचायती राज के बाद के अध्ययनों ने दिखाया है कि स्थानीय निकायों ने भागीदारी बढ़ाई अवश्य, पर वे पूरी तरह प्रभुत्व-मुक्त नहीं बने (Jha, 2002; Mathew, 2007; Jayal, 2006)। अतः स्थानीयता को स्वयंसिद्ध नैतिकता का पर्याय मानना उचित नहीं है।

### 10.7 वैश्विक अनुभव और तुलनात्मक राजनीति

आधुनिक बड़े लोकतंत्रों में पूर्ण दलविहीन व्यवस्था का कोई सफल उदाहरण नहीं मिलता। गैर-दलीय चुनाव स्थानीय स्तर पर कुछ देशों में संभव हुए हैं, पर राष्ट्रीय स्तर पर नीति-निर्माण, सरकार गठन, विधायी स्थिरता और जवाबदेही के लिए दल निर्णायक रहे हैं। जहाँ दलों को नकारकर वैकल्पिक “जन-समितियों” या “प्रत्यक्ष जनशक्ति” की भाषा अपनाई गई, वहाँ कई बार परिणाम या तो अधिनायकवाद के रूप में सामने आए या अत्यधिक अस्थिरता के रूप में। इसलिए जेपी का विचार तुलनात्मक राजनीति की कसौटी पर एक नैतिक आलोचना के रूप में अधिक मजबूत, और संस्थागत विकल्प के रूप में अपेक्षाकृत कमजोर दिखाई देता है।

### 11. दलविहीन लोकतंत्र और भारतीय लोकतांत्रिक अनुभव: 73वाँ-74वाँ संशोधन और उसके निहितार्थ

यह तर्क दिया जाता है कि पंचायती राज संस्थाओं का संवैधानिकीकरण जेपी के विचारों का आंशिक संस्थागत रूप है। इसमें कुछ सच्चाई है। 73वें और 74वें संशोधनों ने स्थानीय लोकतंत्र को संवैधानिक मान्यता दी, नियमित चुनाव, आरक्षण, वित्तीय आयोग, और ग्रामसभा जैसी व्यवस्थाओं को बल दिया। इससे लोकतंत्र का सामाजिक आधार विस्तृत हुआ और महिलाओं, दलितों तथा पिछड़े वर्गों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ी।

किन्तु यह कहना कठिन है कि ये संशोधन दलविहीन लोकतंत्र का प्रत्यक्ष प्रतिरूप हैं। अधिकांश राज्यों में स्थानीय निकायों पर दलीय प्रभाव बना रहता है, चाहे चुनाव औपचारिक रूप से गैर-दलीय हों। कई स्थानों पर सरपंच या पंच चुनाव बिना पार्टी प्रतीक के होते हैं, पर पर्दे के पीछे दलीय समर्थन निर्णायक रहता है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—पहली, दलीय राजनीति सामाजिक जीवन में इतनी गहरी पैठ बना चुकी है कि केवल औपचारिक निषेध से वह समाप्त नहीं होती; दूसरी, स्थानीय लोकतंत्र और दलीय राजनीति के बीच संबंध बहुआयामी है, न कि शून्य-योग। फिर भी, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जेपी की विकेंद्रीकरण संबंधी चिंता ने भारतीय लोकतंत्र को प्रभावित किया। ग्रामसभा, सहभागी निर्णय, सामाजिक अंकेक्षण, स्थानीय जवाबदेही और नागरिक सक्रियता जैसे विचार उनके लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से सामंजस्य रखते हैं।

### 12. समकालीन संदर्भ में जेपी की प्रासंगिकता

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक और उसके बाद भारतीय राजनीति में कई ऐसे रुझान दिखाई देते हैं जो जेपी की चिंताओं को नई रोशनी में सामने लाते हैं।

#### 12.1 राजनीतिक दलों से जनता का मोहभंग

चुनावी लोकतंत्र के विस्तार के बावजूद राजनीतिक दलों के प्रति अविश्वास बढ़ा है। भ्रष्टाचार, वंशवाद, आपराधिककरण, दलबदल, टिकट-वितरण में अपारदर्शिता और आंतरिक लोकतंत्र की कमी जैसे प्रश्न व्यापक बहस के विषय बने। यह वही संकट है जिसे जेपी ने बहुत पहले रेखांकित किया था।

#### 12.2 नागरिक आंदोलनों का उदय

अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन, विभिन्न पर्यावरणीय संघर्ष, भूमि अधिग्रहण विरोध, किसान आंदोलन, नागरिक स्वतंत्रता आंदोलनों आदि ने दिखाया कि दलीय राजनीति से बाहर भी व्यापक जनसमर्थन जुटाया जा सकता है। ये आंदोलन पूरी तरह जेपीवादी नहीं थे, पर 'लोकसमिति' और 'लोकशक्ति' की भावना से कुछ हद तक मेल खाते हैं। शाह (2004) के सामाजिक आंदोलनों संबंधी विश्लेषण से यह समझा जा सकता है कि लोकतंत्र की ऊर्जा का स्रोत केवल दल नहीं, बल्कि नागरिक समाज भी है।

#### 12.3 नई राजनीति और उसकी सीमाएँ

कुछ नई राजनीतिक परियोजनाएँ स्वयं को "पुरानी दलीय राजनीति" के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करती रही हैं। किंतु सत्ता और संगठन की वास्तविकताओं में प्रवेश करते ही उन्हें दल के रूप में संस्थाबद्ध होना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दल-विरोधी ऊर्जा लोकतंत्र में महत्वपूर्ण है, पर शासन की सतत संरचना के लिए किसी न किसी रूप में दलीय संगठन अपरिहार्य हो जाता है।

#### 12.4 लोकनीति बनाम सत्ता-नीति

जेपी की स्थायी प्रासंगिकता इस बात में है कि उन्होंने 'दलों का लोकतंत्र' और 'लोगों का लोकतंत्र' का अंतर सामने रखा। आज जब चुनावी राजनीति अत्यधिक मीडिया-निर्भर, संसाधन-प्रधान और नेतृत्व-केंद्रित होती जा रही है, तब लोकनीति—यानी जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी, सामाजिक निगरानी, स्थानीय निर्णय और नैतिक सार्वजनिकता—की आवश्यकता और बढ़ जाती है।

### 13. समालोचनात्मक संश्लेषण

जयप्रकाश नारायण की दलविहीन लोकतंत्र की अवधारणा का मूल्यांकन करते हुए तीन स्तरों पर विचार आवश्यक है।

- पहला, इसे एक नैतिक-राजनीतिक आलोचना के रूप में समझा जाए। इस स्तर पर यह अत्यंत शक्तिशाली है। यह लोकतंत्र को केवल चुनाव और बहुमत से आगे ले जाकर नैतिकता, लोकभागीदारी, विकेंद्रीकरण और साधन-शुचिता से जोड़ता है।

- दूसरा, इसे एक संस्थागत विकल्प के रूप में परखा जाए। इस स्तर पर इसकी सीमाएँ उभरती हैं। आधुनिक समाज में राजनीतिक दल हितों के संगठन, नीति-निर्माण, वैकल्पिक एजेंडा, प्रतिनिधित्व और जवाबदेही के लिए आवश्यक मध्यस्थ संरचनाएँ हैं। उनका पूर्ण निषेध अनौपचारिक सत्ता-समूहों को बढ़ावा दे सकता है।
- तीसरा, इसे एक सुधारवादी प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया जाए। यह शायद सबसे उपयुक्त तरीका है। जेपी का वास्तविक योगदान हमें यह याद दिलाने में है कि लोकतंत्र का लक्ष्य दलीय प्रतिस्पर्धा का अनंत विस्तार नहीं, बल्कि लोकशक्ति का सशक्तीकरण है। अतः उनके विचार को दलीय लोकतंत्र के उन्मूलन के बजाय उसके लोकतंत्रीकरण की दिशा में पढ़ा जाना चाहिए।

#### 14. निष्कर्ष

जयप्रकाश नारायण भारतीय लोकतांत्रिक चिंतन में उस परंपरा के प्रतिनिधि हैं जो राजनीति को नैतिकता, समाज-सुधार और नागरिक स्वशासन से अलग नहीं करती। उनकी 'समग्र क्रांति' और 'दलविहीन लोकतंत्र' की अवधारणाएँ भारतीय राजनीतिक विचारधारा में एक मौलिक हस्तक्षेप हैं। उन्होंने उस समय दलीय राजनीति की बीमारियों की पहचान की, जब भारतीय लोकतंत्र औपचारिक स्थिरता के बावजूद सामाजिक और नैतिक संकटों से गुजर रहा था। उनका यह तर्क कि राजनीतिक दल अनेक बार जनता के प्रतिनिधि नहीं, बल्कि सत्ता-लोलुप संगठन बन जाते हैं, आज भी कमोबेश सत्य प्रतीत होता है।

फिर भी, समालोचनात्मक विश्लेषण यह दिखाता है कि पूर्ण दलविहीन लोकतंत्र आधुनिक बहुलतावादी समाज के लिए व्यावहारिक विकल्प नहीं है। सामाजिक हितों का संगठन, नीति-आधारित प्रतिस्पर्धा, प्रतिनिधित्व, शासन की सामूहिक जवाबदेही और सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण के लिए राजनीतिक दलों की कुछ बुनियादी उपयोगिता बनी रहती है। राजनीतिक दलों के बिना राजनीति समाप्त नहीं होती; वह अनौपचारिक, अपारदर्शी और कभी-कभी अधिक असमान रूपों में लौट सकती है। इसलिए जेपी के प्रस्ताव को शाब्दिक या संपूर्ण संस्थागत प्रतिरूप के रूप में अपनाना कठिन है। इसके बावजूद, उनके विचार की शक्ति कम नहीं होती। दलविहीन लोकतंत्र का आदर्श हमें यह याद दिलाता है कि लोकतंत्र का सार जनता की सक्रियता, नैतिक सार्वजनिकता, विकेंद्रीकरण और जवाबदेही में है। आज आवश्यकता यह नहीं कि राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया जाए, बल्कि यह है कि दलीय लोकतंत्र को लोक-प्रधान बनाया जाए। इसके लिए कुछ आवश्यक कदम हो सकते हैं—दलों के भीतर आंतरिक लोकतंत्र की स्थापना, चुनावी चंदे में पारदर्शिता, उम्मीदवार चयन की लोकतांत्रिक प्रक्रिया, स्थानीय स्वशासन की वास्तविक सुदृढ़ता, ग्रामसभा और शहरी वार्ड सभाओं को अधिक अधिकार, सामाजिक अंकेक्षण, नागरिक आंदोलनों की वैध भूमिका, तथा सार्वजनिक जीवन में नैतिक आचरण की पुनर्स्थापना। अंततः, जेपी की विरासत एक चेतावनी भी है और एक संभावना भी। चेतावनी यह कि यदि लोकतंत्र केवल दलों, चुनावों और सत्ता-समीकरणों तक सीमित हो जाएगा, तो उसकी आत्मा क्षीण हो जाएगी। संभावना यह कि लोकतंत्र को लोकशक्ति, नैतिकता और सहभागिता के आधार पर पुनर्जीवित किया जा सकता है। इसी अर्थ में 'समग्र क्रांति' आज भी अधूरी परियोजना है—और 'दलविहीन लोकतंत्र' उसके भीतर छिपा वह नैतिक प्रश्न है, जो भारतीय लोकतंत्र से लगातार पूछता रहता है: क्या सत्ता जनता के लिए है, या जनता सत्ता के लिए?

#### संदर्भ सूची

1. Chandra, B. (2000). भारत में उपनिवेशवाद के बाद. नई दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय.
2. Dasgupta, A. (2005). JP Movement and the Emergency. New Delhi: LeftWord Books.
3. Jha, S. N. (2002). Panchayati Raj and Local Governance. New Delhi: Concept Publishing.
4. Jayal, N. G. (2006). Representing India: Ethnic Diversity and the Governance of Public Institutions. New Delhi: Palgrave/Macmillan.
5. Kashyap, S. C. (2004). Our Political System. New Delhi: National Book Trust.
6. Mathew, G. (2007). Panchayati Raj in India: From Legislation to Movement. New Delhi: Concept Publishing.
7. Narayan, J. P. (1959). A Plea for Reconstruction of Indian Polity. Varanasi: Akhil Bharat Sarva Seva Sangh.
8. Narayan, J. P. (1975). Prison Diary. Mumbai: Popular Prakashan.
9. Ostergaard, G. (2000 edition/related reprints). Nonviolent Revolution in India. New Delhi: Gandhi Peace Foundation.
10. Prasad, B. (2010). जयप्रकाश नारायण: राजनीति और दर्शन. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
11. Shah, G. (2004). Social Movements in India: A Review of Literature. New Delhi: Sage Publications.
12. Shah, G. (Ed.). (2004 reprint/useful edition). Protest Movements in Two Indian States. New Delhi: Ajanta/related edition.



13. Varshney, A. (2003). *Ethnic Conflict and Civic Life: Hindus and Muslims in India*. New Haven: Yale University Press.
14. Yadav, Y., & Palshikar, S. (2006). "Party System and Electoral Politics in the Indian States." *Studies in Indian Politics*/edited volumes on state politics.
15. संविधान (73वाँ संशोधन) अधिनियम, 1992. भारत सरकार.
16. संविधान (74वाँ संशोधन) अधिनियम, 1992. भारत सरकार.